IOSR Journal Of Humanities And Social Science (IOSR-JHSS)
Volume 28, Issue 1, Series 6 (January, 2023) 41-43
e-ISSN: 2279-0837, p-ISSN: 2279-0845.
www.iosrjournals.org

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भागवत वर्णित सत्संग एवं भक्ति की उपादेयता

डॉ० चन्द्रशेखर सिंह

Date of Submission: 08-01-2023 Date of Acceptance: 23-01-2023

संस्कृत साहित्य का इतिहास एक विपुल साहित्य का इतिहास है। संस्कृत काव्य की झलक सर्वप्रथम हमें ऋग्वेद में मिलती है। ऋग्वेद में कई ऐसे मंत्र है, जिनमें उनके रचयिता, प्रार्थना के स्तर को त्याग कर कवि प्रतिभा का परिचय देते हैं। परन्तु जिसे हम वास्तविक काव्य शैली कहते हैं, उसका पूर्ण परिणाम संस्कृत काव्य के उपजीव्य ग्रंथों–रामायण, महाभारत एवं श्रीमद्भागवत में देखने को मिलता है। यही उस काव्य–धारा का उद्गम है, जो अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, भास, भवभूति एवं श्रीहर्ष आदि के स्रोतों में विभक्त होकर संस्कृत काव्य–कानन को चिरकाल से सींचती चली आई है।

प्रत्येक काव्य का प्रधान लक्ष्य आनन्दप्राप्ति है। यहाँ प्रश्न उठता है कि वह कौन सा तत्व है, जिससे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, जो काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है, उस तत्त्व के बिना काव्य का कावत्व ही नहीं रह सकता। काव्य का उपादेय वह तत्त्व भगवद्भक्ति है। संस्कृत साहित्य में भक्ति का अप्रतिम स्थान है। देव–द्विजादि में भक्ति को मानव चरित्र का नितांत उपादेय तत्त्व माना गया है। देवताओं की आराधना में 33 करोड़ देवी–देवताओं की संख्या भक्ति की व्यापकता एवं उपादेयता को स्पष्ट करती है।

भारतीय जीवन में भक्ति की जो व्यापकता दृष्टिगत होती है, उसकी प्रामाणिकता वैदिक काल से मानी जा सकती है। यद्यपि वेदों में अनुरागसूचक 'भक्ति' शब्द का साक्षात् उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी उनमें भक्ति को प्रामाणिक करने वाले स्तुतिपरक मंत्र होते हैं, जिससे वेद को भक्ति का मूल मानना आवश्यक हो जाता है–

''त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतकृतो अद्या ते सुम्नमीमहे''

(ऋ0 8/98/11)

साहित्यिक आचार्य रूपगोस्वामी, मधुसूदन सरस्वतीपाद आदि आचार्यों ने भक्ति का सविस्तरेण वर्णन किया है। प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है कि भक्त के हृदय में भगवान् के प्रति आनन्द, प्रेम एवं अनुराग भाव का उदय भगवद्भक्ति की प्राप्ति में आवश्यक है। यही भक्ति काव्य साहित्य में भी विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है। अश्वघोष, कालिदास आदि कवियों, नाट्यकारों, गद्यकारों आदि ने उसी परम अनुरागस्वरूपा 'भक्ति' का अभिप्राय विभिन्न स्वरूपों में अभिव्यक्त किया है। संस्कृत साहित्य, भारतीय समाज के भव्य विचारों का रूचिर दर्पण है। जीवन–संग्राम की विकटता एवं बर्बरता से दूर रहकर रसानुभूति एवं शाश्वत आनन्द प्राप्ति ही इस साहित्य का प्रधान लक्ष्य है। इसलिए संस्कृत काव्य, जीवन की विषम परिस्थितियों के भीतर से आनन्द (रस) की खोज में ही सदा संलग्न रहा है। आनन्द (रस) सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा का विशुद्ध पूर्णरूप है। इसलिए संस्कृत काव्य की आत्मा रस (आनन्द) है, जो इसके उपजीव्य काव्यों में ही दृष्टिगत होता है।

संस्कृत साहित्य के उपजीव्य काव्यों में प्रमुखतया श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं के रसास्वादनपूर्वक भक्ति का रुचिर वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के चरिताख्यान की प्रधानता है जिसमें मानवों के कल्याण के निमित्त धराधाम पर अवतीर्ण होने वाले भगवान् श्रीविष्णु के नाना चरितों, अवतारों तथा तत्सम्बद्ध कथाओं का मुख्यतया विवरण विन्यस्त है। यह लोक में न्याय–अन्याय, राग–द्वेष, मैत्री– कलह के समस्त जागरूक संघर्ष को मिटाने एवं सरस सामंजस्य को स्थापित करने वाली भगवान् की मधुर लीलाओं का आगार होने के कारण नितान्त भक्ति–प्रधान है। श्रीमद्भागवत समस्त श्रुतियों का भगवत्तत्वप्रधान का एक श्रेष्ठ प्रकाशक है। जो इस रस–सुधा का पान करके छक चुका है, वह किसी और पुराण–शास्त्र में रम नहीं सकता। जैसे नदियों में गंगा, देवताओं में विष्णु एवं वैष्णवों में शंकर सर्वश्रेष्ठ हैं, वैसे ही पुराणों में श्रीमद्भावत सर्वश्रेष्ठ है। श्रीमद्भागवत में जीवन्मुक्त परमहंसों के सर्वश्रेष्ठ अद्वितीय एवं माया के लेश से रहित ज्ञान का गान किया गया है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि इसका नैष्कर्म्य अर्थात् कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति भी ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति से युक्त है। जो इसका श्रवण, पठन एवं मनन करने लगता है, उसे भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति प्राप्त हो जाती है, और वह मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

श्रीमद्भागवत में भगवद्भक्ति का वर्णन पदे–पदे उपलब्ध होता है। भगवान्नामस्मरण भी उसी का अंगभूत है। यद्यपि इसमें वर्णाश्रम–धर्म, मानव–धर्म, कर्मयोग, अष्टांगयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि भगवत्प्राप्ति सम्बन्धी सभी साधनों का विशद वर्णन है, तथापि विशेष रूप से भक्ति का ही निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ का आदिमध्यावसान सभी भक्ति से ओतप्रोत है। प्रथम स्कन्ध में ही निष्काम भक्ति को ''परमधर्म'' के रूप में स्वीकार किया गया है जबकि गीता में यही

निष्काम भक्ति अनासाक्त योग के रूप में वर्णित है। इसका अभिप्राय यही है कि व्यक्ति को आसक्तिरहित होकर इस प्रकार के कार्य करने चाहिए जो आदर्श प्रतिष्ठापक तथा उसके उत्कर्ष–कारक हो। श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध में भगवान् की अविचल भक्ति की याचना की गई है। इसके साथ ही भगवान् कृष्ण ने उद्धव को भक्ति विषयक उपदेश देते हुए, भक्ति को कल्मषनाशिनी कुन्दनवत् देदीप्यकारिणी एवं भगवत्तत्व–प्राप्ति की अपूर्व साधनारूपा विधि स्वीकार किया है। इसी प्रंसग में भगवान् ने भक्ति की वशीकरण की महत्ता प्रतिपादित करते हुए स्वीकार किया है कि– मैं भक्तों का सतत अनुसरण इसलिए करता हूँ कि उनकी चरण–रज पाकर पवित्र हो जाऊँ । वास्तव में भक्ति कल्पना की भाँति मनोकामनाओं की पूर्ति में सक्षम हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में तत्त्वनिष्ठ कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि अनन्य भक्ति द्वारा मैं प्रत्यक्ष देखने के लिए तत्त्व से जानने के लिए तथा एकीभाव से प्राप्त होने के लिए भी शक्य हूँ। श्रीमद्भागवत में इसी प्रेमलक्षण भक्ति का तथा इसे प्राप्त कराने वाली अनपायनी भक्ति का विशद और मनोरम वर्णन है। श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध भक्ति–रस से परिपूर्ण है।

श्रीमद्भागवत में वर्णित भक्ति के इसी प्रसंग के अन्तर्गत् शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य–इन पाँच भावों का विवेचन हुआ है। कुछ लोग उक्त भावों में माधुर्य को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। पर वास्तव में सभी भाव समान है और सबका फल ईश्वर की प्राप्ति ही है।

श्रीमद्भागवत में श्री शुकदेव जी इस सम्बन्ध में कहते हैं कि–''भक्ति का साधन अमृत–सागर में क्रीड़ा करने के समान है। इस क्रीड़ा में निमग्न होने पर कोई कामना शेष नहीं रह पाती, फिर दोषों का समावेश वहाँ सम्भव ही कैसे हो सकता है?'' श्रीमद्भागवत में भक्ति के विपरीत आचरण को आत्म–हनन के सदृश स्वीकार किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी ''रामचरितमानस'' में जीवन की सार्थकता भक्ति में ही स्वीकार की है। भक्ति का फल है– भगवतप्राप्ति और वह कलियुग में अधिक सुलभ है। भगवतप्राप्ति के दो साधनभूत उपाय– 'सत्संग एवं संकीर्तन' की महत्ता मानव जीवन की सफलता के लिये पदे पदे प्रतिपादित की गई है। भक्ति के साथ ही प्रेम भी साधन का अनिवार्य अंग है। प्रेम और भक्ति के पावन जल में स्नान किये बिना हमारा जीवन कदापि सुख–शांतिरूप शीतलता नहीं प्राप्त कर सकता।

श्रीमद्भागवत में नवधा–भक्ति के साथ–साथ प्रेम तथा पराभक्ति का भी उल्लेख हुआ है और उसका प्रथम सोपान–बाह्योपासना एवं द्वितीय सोपान अन्तरोपासना है। पाद–सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य और सख्य–भक्तिमार्ग के बहिरंग साधन हैं। स्मरण, आत्मनिवेदनादि अन्तरंग साधन हैं। श्रवण और कीर्तन बाह्यन्तर साधन हैं। इन साधनों से बहिर्मुख वृत्ति को अन्तर्मुख करना ही साधन की साधना है। भक्ति का मुख्य लक्ष्य यही है कि भक्त की बहिर्मुखवृत्तियाँ लौकिक पदार्थों की ओर से हटकर अन्तर्मुख होकर इष्ट स्वरूप में लीन हो जायें। प्रधान अहंवृत्ति का मूल स्वरूप में शमन कर देना ही भक्ति की पराकाष्ठा है और इसी अहंवृत्ति को मूल कारणरूप परमात्मा में लीन करना ही अन्तरोपासना है। इष्टदेव के प्रति निरतिशय प्रेम ही सच्ची भक्ति है। भौतिक पदार्थों में 'राग', धनादि विषयों के प्रति प्रेम 'आसक्ति' तथा परमात्मा के प्रति प्रेम 'भक्ति' कहलाता है। श्रीमद्भागवत में भक्ति के परम साधन प्रेम का बड़ा सरस वर्णन है। गोपियों के प्रेम की पराकाष्ठा दिखाकर वहाँ प्रेम–विषयक तन्मयता की ओर इंगित किया गया है। गोपियों की प्रेम–पराकाष्ठारूप विरहाकुल दशा ने भगवान् को प्रगट होने के लिये बाध्य कर दिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम, प्रेमी को जहाँ कुन्दन – सा पवित्र बना कर आत्म–समर्पण की दिशा में अग्रसर करता है, वहीं प्रिय को भी कोमल–उदात्त भावनाओं से युक्त कर प्रेमी की मनोरथ पूर्ति के लिये उत्सुक बना देता है। इसीलिए श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि जीवन की अन्तिम अवस्था में पहुँचकर ममता–पाश को सत्संग–शस्त्र से छिन्न–भिन्न कर, भगवद्भजन द्वारा निष्कल्मष बनने का प्रयत्न करना कल्याणकर है। भागवत में भक्त को सर्वाधिक भाग्यशाली माना गया है क्योंकि भगवान् भक्ति–रूपी प्रेम–सूत्र में आबद्ध होकर भक्त के हृदय में आ विराजते हैं। जब भक्ति से भगवान् ही प्राप्त हो जाते हैं, तब अप्राप्य रह ही क्या जाता है? पवित्र और निर्मल भक्ति तथा विशुद्ध प्रेम का दिव्य स्पर्श आत्मा को होते ही मनस्ताप और क्लेश भस्मीभूत हो जाएँगे तथा जीवन परम शान्त एवं सुखी बन जायेगा। भक्ति की उपलब्धि सन्त– समागम पर ही निर्भर है, क्योंकि सत्संग की महिमा की तुलना किसी भी अन्य वस्तु से शक्य नहीं है। जहाँ सत्संग की प्राप्ति हुई, वहाँ निश्चल प्रेमा भक्ति की उपलब्धि सुनिश्चित हो जाती है। सत्संगति की प्राप्ति का परम साधन पवित्रता है। सत्संगति से तो पवित्रता क्या भगवत् प्राप्ति भी सम्भव है। जब केवल महापुरुषों के स्मरण से ही मन पवित्रता से भर उठता है तब सत्संगति का प्रभाव कितना होगा? – यह वर्णनातीत ही है। सत्संग मोक्ष का अनावृत्त द्वार तथा विषयों से मुक्ति दिलाने वाला है। संतों का समागम ही नहीं, चरण–स्पर्श भी अपूर्व प्रभावशाली है। उनका चरण–स्पर्श तीर्थों को भी पावन बनाने की क्षमता से परिपूर्ण होता है और यही कारण है कि सन्तों की चरणरज ग्रहण किये बिना बुद्धि भगवच्चिन्तन के अयोग्य स्वीकार की गई है। जब तक महापुरुष (संत) की चरण–रज न मिल जाय, तत्वज्ञान और भगवत् प्रेम मिल ही नहीं सकता। सत्संग से ही भगवान् में प्रेम उत्पन्न होता है। परन्तु संतों के दर्शन भी कठिनता से मिल पाते हैं। यदि भाग्यवश उनके दर्शन हो गये तो तत्काल सम्पूर्ण अनर्थों का क्षय होकर मानव मुक्ति द्वार तक पहुँचाने वाली परम आश्रय भूता संतरूपा तरणी पर आरूढ़ हो भगवान् को वश में करने की शक्ति से युक्त हो जाता है। साधु (सन्त या महापुरुष) कौन है?– इसका उत्तर भागवतकार ने भगवान् कृष्ण द्वारा इस प्रकार दिलाया है– ''जो सुख–दुःख में समान रूप से निर्द्वेष, निरहंकार होकर प्राणीमात्र का हित चिन्तन करते हुए मेरे ध्यान में डूबे रहते हैं, वही संत हैं और उन्हीं का संग सकल पापों का नाशक है।'' श्री भगवान् ने

इसी कथन का समर्थन करते हुए षड्रिपु (काम–क्रोधादि) के बन्धन उत्तर से मुक्त, परमात्मतत्व के ज्ञान से युक्त व्यक्ति को साधु और अपना सर्वाधिक प्रेम–भाजन माना है तथा इसी प्रकार के संतों की सेवा को मुक्ति का द्वारा स्वीकार किया है। सत्संग की प्राप्ति भगवत् – कृपा द्वारा ही संभव है। महापुरुषों के सत्संग के बिना भगवत्कृपा का अनुभव नहीं होता और भगवत्कृपा के बिना ऐसे महापुरुष नहीं मिलते। इसी भाव का समर्थन ''रामचरितमानस'' में विभीषण ने हनुमान से भेंट होने पर किया है। इसका कारण यही है कि भगवान् ने भागवत में स्वीकार किया है कि भक्त भगवान् के हृदय में बसते हैं और उनके भक्तों में भेद का अभाव है। भगवद्भक्त भगवद्स्वरूप ही हैं। भगवान् और उनके भक्तों में अभेद स्थापित करते हुए भगवान् ने स्वीकार किया है कि भक्त, भगवान् के हृदय में बसते हैं और भगवान् भक्त के। गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'मानस' में 'भक्त' के माध्यम से इसी भाव को स्पष्ट किया है। वास्तव में ऐसे प्रेमी भक्तों और भगवान् में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि वे भगवत्प्रेम में इस प्रकार तल्लीन रहते हैं कि बाह्य स्वरूप को भूल कर भगवत्स्वरूप का अनुभव करने लगते हैं और यह अनन्य भाव का ही परिचायक है। इसी अन्यन्यता के कारण गोपियाँ भगवान् को ढूँढती हुई ऐसी तन्मय हो गईं कि वे उन्हीं की लीला का अनुकरण करने लगीं। इस प्रकार भागवत के प्रतिपाद्य 'भगवान्' की प्राप्ति के लिए सत्संग की साधना परमावश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

प्रेमरूपा भक्ति में प्रधान बाधा कुसंगति है। अतः जैसे भी हो, दुःसंग का सर्वथा ही त्याग करना चाहिए। दुःसंग का त्याग और सत्संग का प्रतिपादन आदर्श की शिक्षा देने के लिए ही हुआ है और इसके लिए तत्वनिष्ठ महान शास्त्रज्ञ कृष्ण की मधुर लीलाओं का उल्लेख श्रीमद्भागवत में उपलब्ध होता है। आदर्श शिक्षा से सत्संग की ओर प्रवृत्ति तथा दुःसंग से निवृत्ति अवश्यम्भावी है। अतः आदर्शोन्मुखी जीवन की कल्पना और कामना श्रीमद्भागवत का अभिप्रेत विषय है। इस आदर्श की प्रतिष्ठा के बिना श्रीमद्भागवत के प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन संभव ही नहीं होता। यह प्रतिपाद्य विषय आदर्श स्थापनापूर्वक प्रियतम के प्रति अतिशय उत्कण्ठित बनाने एवं शरणागति की उपलब्धि कराने में वस्तुतः समर्थ है। श्रीमद्भागवत का प्रादुर्भाव ही भवभीति की निवृत्ति, सुख और शान्ति की प्राप्ति के लिये हुआ है। यह ग्रन्थ–रत्न अशरण संसार को सत्य शरण का निर्देश करता है और सम्पूर्ण भयों से मुक्त होने का उपाय भगवज्जन को बताता है। इस निर्देश का भाव यही है कि संसार में प्रत्येक वस्तु उसी (परमात्मा) पर आधारित है, केवल वही अपने आधार पर प्रतिष्ठित है। सृष्टि का नियम है जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसी में लीन हो जाता है। इस नियम के द्वारा समस्त सृष्टि परमात्मा से ही प्रकट है, उसी में स्थित है और उसी में लीन हो जाती है। अतः इस ब्रह्माण्ड का आधार परमात्मा ही है। यह मानवमात्र का कर्तव्य है कि उसकी महत्ता को परिलक्षित कर अपने समस्त सत्कर्म परमात्मा को समर्पण कर दे। जहाँ मानव ने विश्वम्भर को सर्वस्व समर्पित किया, उसका योगक्षेम स्वयं भगवान् वासुदेव धारण करते हैं एवं शरण में आने के लिए प्रेरणा देते रहते हैं–

''अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। (भगवद्गीता 9/22)

जिस प्रकार चंचल बालक माँ से दूर रहने की चेष्टा करता है पर माँ उसे नहीं बिसराती, उसी प्रकार भगवान् शरणागत को कभी नहीं त्यागते। अनन्यभाव से शरणागति की प्राप्ति ही निःश्रेयस का सर्वोत्तम मार्ग है। इसका परित्याग कर ज्ञानमार्ग का अनुसरण करना भूसी से धान की आशा करना मात्र है। जैसे ही मानव भगवान् की शरण में आता है, उसे परमात्मतत्त्व का अनुभव और सांसारिक तत्वों से विरक्ति होने लगती है। भाव यह है कि शरणागत होने पर एक ओर प्रेम तथा दूसरी ओर वैराग्य का कारण उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार भगवान् के शरणागत होने से भक्ति एवं वैराग्य की सिद्धि और परमशान्ति की प्राप्ति होती है। इसी शान्ति की प्राप्ति के लिए श्रीमद्भागवत के अनुकूल जीवन–यापन करना नितान्त आवश्यक है।

श्रीमद्भागवत में भगवान् (श्रीकृष्ण) के परम पावन नाम–संकीर्तन, सत्संग एवं अनपायनी भक्ति का सविस्तरेण वर्णन मिलता है। भगवान् के नाम का स्मरण करने मात्र से ही जीव के अन्तर्निहित समस्त पापों का नाश होता है और ऐसा पापों से मुक्त जीव भगवत–सामीप्य प्राप्त कर त्रिविध तापों से छूट जाता है। सत्संग से भगवान् की भक्ति प्राप्त होती है और भक्ति प्राप्त हो जाने पर माया का विच्छेद हो जाता है, क्योंकि जब तक जीव मायाबद्ध रहता है, तब तक उसकी मुक्ति (मोक्ष–प्राप्ति) असंभव है। ऐसे में यदि जीव राग–द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इत्यादि विकारों का परित्याग करके सत्संग एवं भगवद्भक्ति को हृदयंगम कर ले तो आधुनिकता के इस दौर में अधर्म, अन्याय, अत्याचार एवं भ्रष्टाचार की बेड़ी से मुक्ति मिल सकती है। जब समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार का उन्मूलन हो जायेगा, तभी हम प्रेम–सौहार्दपूर्ण, धर्म–न्यायप्रिय एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से परिपूर्ण एक सुन्दर समाज की परिकल्पना कर सकते हैं।

✦✦✦